हेति

सुकन्या अकथ कथा

सिनीवाली

हेति

सुकन्या: अकथ कथा

सिनीवाली

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: दिसंबर, 2024

© सिनीवाली

अपनी माँ सहित उन सभी स्त्रियों को

जो पतिग्रह में वे सभी दायित्व पूर्ण करती हैं

जिनका श्रेय उन्हें नहीं मिलता

ऋतु कोई भी हो, मैं प्रतिदिन ब्रह्ममुहूर्त में सोनभद्र एवं वधूसरा नदी के संगम पर स्नान के लिए आती हूँ।

हाँ... स्नान...!

मैं वनवासिनी हूँ किन्तु विगत कुछ दिवस से मुझे ऐसा क्यों प्रतीत हो रहा है कि इस अरण्य में वन्यप्राणियों एवं निवासियों के अतिरिक्त कोई अन्य भी विचरण कर रहा है। नहीं, ये केवल मेरी आशंका मात्र नहीं है। यद्यपि मैं उनके पदचाप की ध्वनि नहीं सुन पाती हूँ परंतु मेरे अंतर्मन को अशोक, किंशुक, शिरीष आदि के वृक्षों पर उनके स्पर्श की अनुभूति होती है।

ये वन मेरे लिए मात्र वन तो नहीं है! मैं भी इन्हीं अरण्य के वृक्षों में से एक हूँ। यदि ऐसा न होता तो स्नान हेतु नदी के पथ पर जाते हुए, मुझे देखते ही कामिनी के पुष्प लाजवंती नहीं बन जाते। प्रसूनों से लदकर वह ऐसे मुस्कुराने लगती है जैसे प्रियतम की मधुशय्या पर जाने के पूर्व प्रिया...!

कामिनी इन दिनों मुझसे संकेत में जो कह रही है, उसके अवबोध से मैं क्यों नहीं कामिनी हो जाती, स्पंदित हो मेरी रोमावलियाँ क्यों नहीं झूम उठतीं...!

अपने कुंतल मैं प्रत्येक प्रहर केशपाश में बाँधे रखती हूँ। सत्य कहूँ तो केश को नहीं, मैं अपने मन को बाँधे रखती हूँ। पितृगृह में सखियाँ कहा करती थीं कि मैं अनिंद्य सुंदरी हूँ, त्रिलोक की रूपराशि मुझमें समाहित है। इस चाकचिक्य को देखकर इंद्रलोक

की अप्सराओं का भी मन भंग हो जाएगा। मुझे देख देवता भी लालायित हो उठेंगे! तपस्वी की तपस्या भंग हो जाएगी ! वाचाल आलियों से स्वयं को बचाती तो दर्पण भी बारंबार यही कहते!

राजवाटिका के छुप-तरु, पुष्पों के भार से इठलाती लताएँ, नृत्य करते मयूर, शाखा पर बैठे कपोत एवं शुक, नभ में विचरते सारिका समूह एक स्वर में कहते, ''मृगाक्षी, त्रिलोक में कदाचित ही ऐसा कोई हो जो आपके रूप को देखकर अपनी सुधबुध न गँवा बैठे !''

मेरा सौंदर्य! मेरे लिए हर्ष एवं मान का विषय था परंतु ये किंचित भी भान न था...मेरा हर्ष, मेरा मान मेरा ही शत्रु बन जाएगा! तभी तो मेरे धर्मपति ने ...! ज्ञात है मुझे, धर्म एवं ये जग मुझे धर्मपति पर प्रश्न करने की अनुमति नहीं देता। परंतु अनुमति नहीं देने से प्रश्न समाप्त तो नहीं हो जाता ? धर्मग्रंथ एवं संहिता निर्मित करने वाले वो विवेकवान कौन थे जो पुरुषों के अधिकार के बारे में तो जागृत रहे परंतु स्त्रियों के प्रति अपना कर्तव्य विस्मृत कर गए ? स्वकर्तव्य का जिन्हें ज्ञान नहीं, जो न्यायप्रिय नहीं, निष्पक्ष नहीं, वो विधिनिर्माता कैसे हो सकते हैं ?

उत्तरीय उतार मैंने अपने केश उन्मुक्त कर दिए। जो कटि को स्पर्श करते हुए पृष्ठभाग पर झूलने लगे, कुछ मेरे उन्मुक्त उरोज के उत्तरीय बन गए। तट पर खड़ी मैं, ज्यों निर्झरणी के समक्ष रूप यौवन से बलखाती दूसरी तरंगिनि !

इस याम मैं स्वयं को किंचित क्षण के लिए वायु एवं जल के सान्निध्य में रखती हूँ। देह एवं मन के ताप के किंचित अंश ही सही इस निर्मल एवं निर्बाध जल एवं पवन में प्रवाहित हो जाएँ। प्रत्येक प्रहर बंधन में बँधे-बँधे शिराएँ एवं पेशियाँ क्लान्त हो जाती हैं। अपनी ही देह को खींचना पड़ता है। इस एकांत में मैं यहाँ स्वयं एवं प्रकृति के संग रहती हूँ।

''सुंदरी !''

इस समय, इस नीरव शांति में, अपने एकांत में मैंने ये कैसा स्वर सुना! किस छली, पांशुल का स्वर है ? जल मध्य मैं अर्धस्नान की अवस्था में, कम्पित दीपशिखा की भाँति हो गई। 'सुंदरी' मात्र शब्द या संबोधन नहीं वरन शीतल, मृदुल जल में क्षणिका की भाँति गिरी थी। मेरे हृतल की सशंकित लहरें भयभीत हो आकाश स्पर्श करने लगीं।

अपने काँपते करतल को उत्तरीय बना, तट की ओर अतिशीघ्रता से आकर वलकल ओढ़कर मैंने अपने भय पर नियंत्रण करते हुए चारों ओर दृष्टिपात किया। तट के निकट तमाल, अशोक, आम्र के वृक्ष मलयपवन के स्पर्श से नवीन दिवस के स्वागत हेतु तत्पर हो रहे हैं। इस नीरव शांति में तरु के जागने के अतिरिक्त कोई ध्वनि नहीं है।

कदाचित मेरा पूर्वाभास सत्य तो नहीं! अथवा मेरे भ्रम या अशांत मन का परिणाम है वह स्वर, क्योंकि स्वर तो अत्यंत स्पष्ट था !

मैं घट लेकर मुड़ी ही थी कि पुन:: वही ध्वनि मुझे अचंभित कर गए। मैंने भलीभाँति सुना... नहीं ये मेरा भ्रम नहीं... किसी की प्रवंचना है। अवश्य ही यहाँ कोई है।

''इंदुवदना !''

मेरे पग रुक गए। स्वयं को स्थिर कर मैं दृढ़ता के साथ खड़ी हो गई- विगत में मेरा प्रश्न न पूछना मेरे जीवन को कहाँ ले आया। यदि मैं उस दिवस प्रश्न करती तो आज...! प्रश्न नहीं पूछने का महती मूल्य चुकाने के उपरांत जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा मिली, भय नहीं... प्रश्न करो! अन्यथा जीवन पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा- मुझे आभास हुआ कि वृक्ष की ओट में कोई है !

दृढ़ स्वर में मैंने पूछा, ''हे मर्यादा पुरुष! जो अपनी मर्यादा की सीमा रेखा लाँघ चुके हों उन्हें कक्ष ये वृक्ष अपनी ओट में स्थान दे पाएगा ? जिनके शब्दों में कामुकता हो... फिर वहाँ लज्जा के लिए स्थान कहाँ ? आपकी वाणी स्वयं ही इस निर्जन वन में आपका परिचय दे रही है। इसलिए हे विवेकवान, शीलवान पुरुष, मेरे समक्ष आते हुए लज्जा कैसी ?'' मेरे प्रश्न में कटाक्ष था।